आपने लिखा

संदर्भ अंक-103 प्राप्त हुआ। काफी खुशी होती है जब *संदर्भ* का नया अंक विभिन्न शैक्षणिक सन्दर्भों को समाहित करके मिलता है। एकलव्य संस्था के माध्यम से नियमित प्रकाशन और समय पर उपलब्ध कराना भी एक बेहतरीन प्रयास है। इस अंक में कई आलेख काफी जानकारी समाहित किए हुए हैं। 'समझ गए ना!' मूलचंद बोहरा का आलेख वर्तमान परिदृश्य को आईना दिखाता हुआ प्रतीत हो रहा था – शासन का यह स्पष्ट नहीं कर पाना कि विद्यालय में शिक्षक कितने स्वतंत्र और बच्चे कितने स्वतंत्र। साथ ही स्वतंत्रता का मतलब भी परिभाषित नहीं दिखता है। इस आपाधापी में दो पाट के बीच तो बच्चा ही पिसता है। सीखने-सिखाने का माहौल कुछ ही स्तर पर दिखाई देता है मगर एक बड़ा भाग केवल हीन भावना से ग्रसित दिखाई देता है। शिक्षा का उद्देश्य गर शिक्षक को ही पता न हो तो कल्पना की जा सकती है कि शिक्षा का क्या हश्र होगा। ये आज की ही स्थिति नहीं है, पिछले कई दशकों से यह हो रहा है। पढ़ना और परीक्षा पास करने के लिए पढ़ना, पढ़ाना और केवल परीक्षा पास कराने के उद्देश्य से पढ़ाना, इन दोनों तथ्यों को समझना बहुत ज़रूरी है।

दो महीने पहले हमें सतत एवं व्यापक मूल्यांकन की प्रक्रिया को समझने के लिए तीन अलग-अलग स्कूल के प्रगति पत्रक गहराई से समझने का अवसर मिला। तीनों में काफी भिन्नता दिखाई दे रही थी। इस सन्दर्भ में पालक वर्ग को किसी भी तरह की अवेयरनेस नहीं है कि उनके बच्चों के प्रगति पत्रक के क्या मायने हैं। सुधारात्मक और विवरणात्मक टिप्पणी अपने आप में बहुत बड़ी चुनौती दिखाई देती है। शिक्षक-शिक्षक और स्कूल-स्कूल में मत-मतान्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कुछ कौशलों का आकलन कर रहे हैं, तो कुछ अवधारणा का। कुछ केवल रटे हुए सवालों के जवाब का, तो कुछ परियोजना और अभिव्यक्ति का। सीसीई की धरातलीय पृष्ठभूमि बनती हुई मुझे तो दिखाई नहीं देती। ग्रेड का मसला तो अपने आप में उलझन भरा है। *डी* और *ई* ग्रेड तो देना ही नहीं है, अगर दिए तो अतिरिक्त समय देकर कौन माथा गरम करे। इस तरह की मानसिकता भयावह है।

इसी अंक में, 'क्या एंटीबायोटिक दवाएँ बेकार होती जा रही हैं?' काफी बेहतर आलेख है। प्रकाशन समूह बधाई का पात्र है।

नरेन्द्र 'नन्द'
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन
धमतरी, छत्तीसगढ़

संदर्भ अंक-103 में *शिक्षकों की कलम से* कॉलम के अन्तर्गत माधवजी का लेख 'वाट्सएप वार्तालाप' पढ़ा।

माधवजी ने एक वार्तालाप का ज़िक्र करते हुए लिखा है कि शुष्क सेल के बारे में पढ़ने के बाद बच्चों ने मोबाइल फोन की

बैटरी से एलईडी लाइट जलाई और इन्हीं बच्चों के एक समूह ने बैटरी बल्ब के साथ कुछ खिलवाड़ करते हुए तार का एक-एक छोर गीले गोबर में रखकर बल्ब जलाने की कोशिश की और बल्ब जला भी। पढ़ने के बाद लग रहा था कि कैसे हम कुछ घटनाओं पर सवाल उठाते हैं और सवाल उठाते हुए उत्तर खोजने की दिशा में अग्रसित भी होते हैं। जैसे इस वार्तालाप में यह पता चला कि गीला गोबर सुचालक की तरह कार्य करता है।

रुचिकर और कदम बढ़ाने वाला सराहनीय प्रयास यह है कि बहुत ही कम संसाधन में बच्चों द्वारा खुद खोजा गया सन्दर्भिक प्रयोग और प्रयोग पर बातचीत करना कई सवालों और जिज्ञासाओं को तरजीह देता है, मसलनः

1.बल्ब कब जलता है?

2.सर्किट पूरा होने के मायने क्या हैं?

3.सुचालक और कुचालक होने के तात्पर्य क्या हैं?

इस पूरे पर्चे को पढ़ने के बाद मैं यही कहूँगी कि माधवजी आप लिखते रहिए और मुझ जैसे पाठक को मदद करते रहिए ताकि मैं भी सवाल बनाने की प्रक्रिया में केवल सूचनात्मक ज्ञान को ही ज़्यादा जगह न देती रहूँ बल्कि काम कर सकूँ – समझ और अनुप्रयोग आधारित सवाल बनाने की दिशा में और शिक्षक समूह से इन पर बात भी कर सकूँ।

अंजु दास मानिकपुरी
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन
धमतरी, छत्तीसगढ़

संदर्भ अंक-102 काफी देर से मिला। इसलिए अपने प्रकाशित पत्र से अधिक अंक मिलने की खुशी हुई। इसके बाद इस बार प्रकाशित निम्न तीन लेखों को देखते ही उसे पढ़ने की तीव्र उत्कण्ठा हुई।

सी. एन. सुब्रह्मण्यम जी का लेख 'फेल न किया तो क्या किया?' पढ़ते समय उनके लिखे हर विचार से सहमति लग रही थी क्योंकि इस तरह के अनुभव मुझे अक्सर ही स्कूल विज़िट प्रशिक्षणों, कार्यशालाओं या अनौपचारिक रूप से शिक्षकों के साथ बातचीत के दौरान सुनने को मिल जाते हैं। जैसे, अब तो बच्चों को फेल नहीं करना है, इसका मतलब बस पास करते चलो, चाहे बच्चों को कुछ आए या न आए – इस गलत धारणा से सिर्फ शिक्षक ही ग्रसित नहीं हैं बल्कि जनशिक्षक और सीनियर एजुकेशन ऑफीसर भी हैं जो कि बड़े-बड़े पदों पर काबिज़ हैं और जो अक्सर शिक्षकों को ट्रेनिंग देने भी जाते हैं।

दूसरी बात है, पास और फेल का खेल। इस खेल के चक्र से आज के समय में कोई भी नहीं बच पाया है, मानो कि बच्चों के पास होने से उनकी दक्षता सिद्ध होती है और कक्षा के सभी बच्चे पास हो जाएँ तो उससे शिक्षकों की। कुछ दो-चार बच्चे मेरिट में आ जाएँ तो उससे स्कूल की दक्षता सिद्ध होती है। मेरिट ही आज के समय में अच्छे स्कूल का मापदण्ड बन गया है। बात यहाँ तक ही आकर सीमित नहीं रह जाती, जिन स्कूलों का रिज़ल्ट बहुत खराब निकलता है उनको *सी* और

डी ग्रेड के स्कूलों के नाम से सम्बोधित किया जाता है। फिर आला अफसरों का पूरा ज़ोर इस बात पर होता है कि किसी तरह से यह स्कूल *ए* ग्रेड में आ जाए। और आश्चर्य की बात भी नहीं है कि साल भर के अन्दर ही ये सभी शालाएँ *ए* ग्रेड में आ ही जाती हैं। मेरे कहने का अर्थ आप लोग समझ ही गए होंगे। हम बस आँकड़ों के चक्कर में ही उलझ कर रह गए हैं।

क्या पास-फेल से ही बच्चों का सीखना तय होता है? और जिस तरह से पास या फेल किया जाता है वह तरीका कितना उपयुक्त है? मान लो कोई बच्चा गणित और अँग्रेज़ी में फेल हो गया। इसका मतलब उसने 50 में से 17 नम्बर भी अर्जित नहीं किए। अब उसको उसी कक्षा में फिर से पढ़ना होगा। अरे भाई, मुश्किल तो उन दो विषयों में थी, शेष अन्य में तो वह पास हो गया था तो जिन में वह पास हो गया था उन विषयों को पुनः पढ़ाना, यह कहाँ की तर्कसंगत बात हुई। जबकि होना तो यह चाहिए कि जिन विषयों में उसकी अवधारणा साफ नहीं हो पाई थी, शिक्षक को उसमें बच्चे की मदद करनी चाहिए थी।

अक्सर शिक्षक बच्चों के नहीं सीख पाने के लिए पिछली कक्षाओं के शिक्षकों पर ही दोष मढ़ते रहते हैं जैसे आठवीं कक्षा के शिक्षक कहते हैं कि हमारे पास तो बहुत ही कमज़ोर बच्चे आए हैं, पता नहीं पाँचवीं कैसे पास कर ली। और पाँचवीं वाले भी पिछली कक्षाओं पर दोष मढ़ते हैं। हद तो तब हो गई जब आज से लगभग एक माह पूर्व मैं जनशिक्षा केन्द्र में आयोजित एक बैठक में गई। वहाँ पर चर्चा के दौरान पहली कक्षा की शिक्षिका ने कहा कि हमारे पास बहुत कमज़ोर बच्चे आए हैं। आँगनवाड़ी में इन बच्चों पर ठीक से ध्यान नहीं दिया गया। यानी हर व्यक्ति अपनी ज़िम्मेदारी से भागता नज़र आ रहा है। स्कूल का फेल करना कई बार बच्चों को ज़िन्दगी में भी फेल कर देता है। इसके बहुत घातक और गम्भीर परिणाम देखने को मिलते हैं, जैसे परीक्षा के समय बच्चों का आत्महत्या करना। परीक्षा के दिनों में प्रतिदिन इस तरह की खबरें अखबार का हिस्सा बनती हैं। कई बार ऐसा लगता है कि परीक्षा नहीं होगी तो स्कूल में पढ़ाई ही नहीं होगी। क्या परीक्षा परिणाम और यह नम्बरों का खेल किसी बच्चे की ज़िन्दगी से बढ़कर है? यदि ऐसा है तो हमें नहीं, शिक्षा जगत से जुड़े सभी लोगों को इस विषय पर गम्भीरता से सोचना चाहिए कि इस तरह की शिक्षा से हम पहुँचना कहाँ चाहते हैं और इस शिक्षा से उपजा हमारा समाज कैसा होगा। क्या वह भय-मुक्त और तनाव रहित होगा?

यहाँ पर बच्चे का फेल होने का मतलब है हमारे सिस्टम का फेल होना। बच्चे तो स्कूल में दाखिला लेते हैं मगर उनको स्कूल में टिका नहीं पाए यह हमारी कमज़ोरी है। हम स्कूल में ऐसा कुछ नहीं कर पाए जिससे बच्चा स्कूल में ठहर पाता, उसका मन लग पाता, कक्षा में चल रही प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग ले पाता। ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया में अपना भी योगदान दे पाता। और अपनी इस कमज़ोरी को छुपाने के लिए हम कह देते हैं कि काम पर जाने

के कारण और बकरी चराने के कारण बच्चे स्कूल नहीं आ पाते हैं। थोड़ा ठहरकर सोचें तो क्या वास्तव में यही कारण हैं?

और बच्चों को स्कूल में अच्छा लगे भी क्यों? न तो शिक्षकों का व्यवहार बच्चों से मित्रवत है, न ही किताबें उनके सन्दर्भ से जुड़ती हैं। हिन्दी ही मुख्य भाषा के रूप में स्कूलों में पढ़ाई जाती है लेकिन सरकारी स्कूलों में आने वाले बच्चों में से कितने सारे बच्चों की तो हिन्दी प्रथम भाषा है ही नहीं। कई बच्चे तो प्रथम पीढ़ी सीखने वाले हैं, पहली बार इस पीढ़ी ने स्कूल में कदम रखा है।

यह भी सुनने में आ रहा है कि अब पाँचवीं और आठवीं में परीक्षा फिर से शुरू होने वाली है। तो अब प्रश्न यह उठता है कि जब पाँचवीं और आठवीं होती थी तब बच्चे बेहतर सीखते थे क्या?

दूसरा मनोहर चमोली का लेख 'इमला और भाषा शिक्षण' पढ़ा। बहुत ही सरल और सहज लेख लगा। अपने इस सूक्ष्म अवलोकन को उन्होंने बहुत ही सुन्दर तरीके से शब्दों में प्रस्तुत किया है। इस लेख को पढ़ते समय यह महसूस हो रहा था कि यदि बच्चों के साथ कुछ गतिविधि करवा रहे हैं तो किस तरह से उनकी छोटी-से-छोटी प्रतिक्रियाओं को दर्ज करें, शायद तभी हम उसका ठीक से विश्लेषण कर सकते हैं। एक और सबसे महत्वपूर्ण बात यह भी लगी कि इसमें शिक्षक ने अपनी गतिविधि का पुनरावलोकन भी किया। अन्यथा अक्सर बच्चों में ही गलतियाँ निकाली जाती हैं कि वही ठीक से नहीं कर पा रहे हैं। यहाँ पर शिक्षक का ठहरकर अपने शिक्षण के तरीकों पर सोचना वाकई बहुत सुखद अनुभूति देता है। इस तरह के उदाहरण से शिक्षा जगत में फैली निराशा में एक आशा की किरण दिखाई देती है।

दूसरा, इस दौरान बच्चों द्वारा की गई गलतियों पर गोला लगाने की बजाय उसको बोर्ड पर लिख दिया जाए जिससे हर बच्चा स्वयं ही अपने लिखे हुए को जाँच सके। इसी कड़ी में मैं भी बच्चों के साथ काम का एक अनुभव साझा करना चाहती हूँ। बच्चे जैसा बोलते हैं वैसा ही लिखते हैं जैसे, *पर* को *पे*, *सुबह* को *सुबे* किन्तु हम बड़े लोग लिखते समय सतर्क हो जाते हैं। मगर बच्चों को यह फर्क करने में थोड़ा समय लगता है।

तीसरा 'बहुभाषीय कक्षा में व्याकरण के नियमों को ढूँढ़ना' सविता और शिवानी दीदी का लेख पढ़ा। इस लेख से इस विषय पर कक्षा में किस तरह से यह करवाया जा सकता है, यह बहुत बारीकी और विस्तार से समझने का मौका मिला। क्योंकि बहुभाषिक कक्षा होनी चहिए इस पर तो एक स्तर तक की सहमति बन जाती है लेकिन इस विचार को कक्षा में किस तरह से अपनाया जाए, यह लेख उस बात का बहुत बढ़िया उदाहरण है।

प्रेरणा मालवीय
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन
भोपाल, म.प्र.

✦✦✦✦✦